प्रतिक्रमण : एक आध्यात्मिक दृष्टि

श्री फूलचन्द मेहता

मिथ्यात्व मोहनीय के कारण जीव संसार के कार्यों में, विषयभोगों में, आत्मा की विभावदशा में रचा पचा रहता है, जो कि अतिक्रमण की स्थिति है। जैसे ही जीव निज ज्ञान-दर्शन-चारित्र में आने की प्रक्रिया को अपनाता है तो वह प्रतिक्रमण की ओर प्रवृत्त होने लगता है। आस्रव से संवर की ओर एवं निर्जरा की ओर जाने में प्रतिक्रमण सहायभूत है। इस प्रकार लेखक ने तात्त्विक दृष्टि से प्रतिक्रमण का विवेचन किया है। *-सम्पादक*

जैन दर्शन में आत्मवाद, कर्मवाद, क्रियावाद, लोकवाद अथवा जीव-अजीव आदि तत्त्वों का, षट्द्रव्यों का, पंचास्तिकाय का, मोक्षमार्ग व संसार मार्ग का, सत्य-असत्य का, हिंसा-अहिंसा का, धर्म-अधर्म का, बन्ध व मोक्ष का, स्वभाव-विभाव का, अस्ति-नास्ति का, स्वचतुष्टय-परचतुष्टय के स्वरूप का, स्वसमय-परसमय इत्यादि का अनेकान्त दृष्टि से जितना सूक्ष्म, गहरा, व्यापक और यथार्थ स्वरूप विश्लेषण मिलता है, उतना अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं है।

निग्गंथे पवयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणयट्ठे (भगवती २.५) परम अर्थ एक मात्र निर्ग्रन्थ प्रवचन ही है अन्य सभी संसार के विषय-वासना के साधन, कुटुम्ब-परिवार, धन-वैभव, जमीन-जायदाद, सत्कार-सम्मान, अधिकार आदि अनर्थ रूप हैं, इनमें सुख मानना मिथ्यात्व है।

सम्यक्त्व की निर्मल प्रभा है। यह दृढ़ वज्रमय उत्तम गहरी आधारशिला रूप नींव है। जिस पर चारित्र एवं तप का महान् पर्वताधिराज मेरु सुदर्शन टिका हुआ है। ऐसे महान् रत्न के विषय में अनभिज्ञ रहना मिथ्यात्व है। (नन्दीसूत्र टीका ४.५.९१२) अविद्या, अविवेक व अविचार सघन मूर्च्छा है। पर वस्तु को भोगने का भाव एकांत पाप है और परवस्तु में एवं उसके भोग में आनन्द या सुख मानना एकांत मिथ्यात्व है।

अपने निज चैतन्य स्वरूप में अनंत ज्ञानादि गुणों के वैभव से अपरिचित, अनंत सामर्थ्यवान आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ और संसार सागर से पार होने में असमर्थता का अनुभव कर्त्ता तथा परद्रव्य में, जो आत्मा से स्पष्ट भिन्न है जिसकी सत्ता-जाति-लक्षण भिन्न है उसमें यह अज्ञानी जीव मूढ होकर भ्रान्त धारणा से अहंत्व-ममत्व-मूर्च्छा-अपनत्व-एकत्वबुद्धि कर, उनमें इष्टानिष्ट की बुद्धि कर, रागद्वेषादि भाव कर अनन्त संसार में अनंत जन्म-मरणादि के भयंकर दुःख भोग रहा है और मोहनीय आदि कर्मो का बंध कर रहा है, यह सब इस मिथ्यात्व मोहनीय की कृपा का फल है। जैसा प्रत्येक वस्तु या पदार्थ का स्वरूप है वैसा यथार्थ अनुभव प्रतीति में न लाकर अन्यथा ही स्वरूप समझता है, जिससे ज्ञानी की दृष्टि के माहात्म्य का लक्ष्य ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान में नहीं आता और वह सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है।

इन्हीं सबसे मुक्त होना तथा सम्यक्त्व में, सम्यक् ज्ञान में और सम्यक् चारित्र में अथवा संयम व तप में प्रविष्ट होना अर्थात् निज चैतन्य स्वभावमय वीतरागभाव में स्थित होना ही संवर धर्म है। आस्रव में अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग में जुड़ना ही अतिक्रमण है। यही जीव की अज्ञानदशा विभाव स्वरूप है, जो अनेक विकल्पात्मक कर्मबंधन की हेतु है। इससे निज ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म में स्थित होने की प्रक्रिया विशेष ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का स्वरूप समझने के लिये इसके प्रतिपक्षी अतिक्रमण का स्वरूप भी समझना अनिवार्य है। अतिक्रमण आस्रवरूप प्रक्रिया है जबकि प्रतिक्रमण संवररूप प्रक्रिया है। एक संसार मार्ग को पुष्ट करती है तो दूसरी मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करती है। प्रतिक्रमण विभाव भावों से (राग, द्वेष, मोह, अज्ञान भावों से) स्वभाव (रत्नत्रय धर्म रूप मोक्ष मार्ग) में आने की प्रक्रिया है, जो संवर रूप है। प्रतिक्रमण संवररूप होने के साथ प्रायश्चित्त तप का अंग होने से निर्जरा रूप भी है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग आस्रव के द्वार हैं। इनमें मुख्य आस्रव मिथ्यात्व का है। इसी से जीव अविरति, प्रमाद, कषाय व योग से जुड़ता है। यह आस्रव ही अतिक्रमण है। यहाँ स्वभाव की क्रिया को छोड़ विभाव की क्रिया में प्रवेश करने जैसी चेष्टा अज्ञान से हो रही है। जीव अनादि से पहले मिथ्यात्व, फिर अविरति, फिर प्रमाद, फिर कषाय, फिर योग द्वार से आस्रव बंध करता आ रहा है तो छूटने का क्रम भी इसी तरह होता है। पहले मिथ्यात्व जो अनन्त संसार का मूल है उससे छूटने की प्रक्रिया में मिथ्यात्व के अभावरूप सम्यक्त्व संवर की प्रक्रिया मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है। यह होने पर ही संसार अल्प रह जाता है। वहाँ मोक्षमार्ग का प्रारंभ हो जाता है। नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्रीवेद, ज्योतिषी, भवनपति व व्यंतर देवों का बंध ही रुक जाता है। उसके सामने शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वभावी आत्मा होने का लक्ष्य रहता है। यहाँ देह, मन, वाणी, कर्म व रागादि भाव विकार के पोषण का भाव नहीं रहता। वह निर्लिप्त, अनासक्त, निष्पक्ष होकर एकमात्र संवर-निर्जरा के लिए अपने स्वभाव के सन्मुख होकर रत्नत्रय धर्म की आराधना करने में संलग्न हो जाता है। यही अतिक्रमण से पीछे हटकर स्वभाव में आने की प्रक्रिया प्रतिक्रमण है। यहाँ मात्र कुटुम्ब-परिवार, धन-वैभव आदि छोड़ने रूप ही क्रिया नहीं है तथा पापाचार से पुण्याचार में आने की शुभ क्रिया ही नहीं है, बल्कि सर्वकषायों से क्रमशः छूटने की और अकषाय रूप वीतराग भाव में, आत्मशुद्धि में बढ़ने रूप मोक्षमार्ग की क्रिया, निज स्वभाव की क्रिया, निज चैतन्यमय सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप आत्मा की शुद्ध परिणति की क्रिया है, जो संवर-निर्जरा रूप है, जो अबंध रूप है। यही यथार्थ में भाव प्रतिक्रमण है जो द्रव्य कर्मों की निर्जरा का कारण है। यह भाव व द्रव्य प्रतिक्रमण साथ-साथ होते हैं। तभी निरंतर वीतराग दशा बढ़ने पर यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर जीव सभी घाति कर्मों से मुक्त हो जाता है।

यह सब कुछ साधना तभी संभव है जबकि पदार्थों का स्वरूप यथातथ्य ज्ञात हो।

-३८२, गोशाला के सामने, अशोक नगर, उदयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org